॥ ओ३म् ॥

दयानन्दसन्देश

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मासिक पत्र

Date of Printing = 05-01-21
प्रकाशन दिनांक = 05-01-21

जनवरी २०२१

वर्ष ५० : अङ्क ३
दयानन्दाब्द : १९६
विक्रम-संवत् : पौष-माघ २०७७
सृष्टि-संवत् : १,९६,०८,५३,१२१

संस्थापक : स्व० ला० दीपचन्द आर्य
प्रकाशक व
सम्पादक : धर्मपाल आर्य
सह सम्पादक : ओमप्रकाश शास्त्री
व्यवस्थापक : विवेक गुप्ता

कार्यालय :

दयानन्दसन्देश (मासिक)
४२७, मन्दिर वाली गली, नया बांस,
खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष : २३९८५५४५, ४३७८११६१
चलभाष : ९६५०५२२७७८
E-mail : aspt.india@gmail.com

कुल पृष्ठ २८
एक प्रति १५.०० रु०

वार्षिक शुल्क १५०) रुपये
पंचवर्षीय शुल्क ५००) रुपये
आजीवन शुल्क ११००) रुपये
विदेश में ५०००) रुपये

इस अंक में

- वेदोपदेश २
- भारत में सांता क्लाज कहाँ से आये ४
- उपमा प्रमाण और अलंकार ६
- दलितोद्धार की आड़ में १०
- मनुष्य को अपने सभी शुभ अशुभ....... १४
- धर्म और अधर्म १७
- गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की प्रासंगिता २१
- लव जिहाद कानून क्यों बना मजबूरी २३
- हिन्दुओं की अज्ञानता २६
- समीक्षा–दलितोद्धार की आड़ में २७

विशेष : दयानन्द सन्देश में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की पूर्णतया सहमति आवश्यक नहीं है। अतः किसी भी चर्चा/परिचर्चा एवं वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे।

सत्यार्थप्रकाश

प्रचार संस्करण – ३००० रुपये सैकड़ा
स्पेशल (सजिल्द) – ५००० रुपये सैकड़ा में प्राप्त करें।

॥ ओ३म् ॥

वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। —महर्षि दयानन्द

वेदोपदेश—न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

—ऋ० १०।१६४।३७॥

शब्दार्थ—**यत् इव**=जो कुछ, जैसा **इदम्**=यह **अस्मि**=मैं हूँ, यह मैं **न+विजानामि**=विशेष रूप से नहीं जानता हूँ, **निण्यः**=मूढ़-सा, भोला [पंजाबी में न्याणा] मैं **मनसा+सन्नद्धः**=मन से बँधा हुआ, जकड़ा हुआ **चरामि**=विचर रहा हूँ। **यदा**=जब **मा**=मुझको **ऋतस्य**=ऋत का, सत्यज्ञान का **प्रथमजाः**=प्रथमोत्पादक प्रभु **आगन्**=प्राप्त होता है **आत्+इत्**=तब ही **अस्याः**=इस **वाचः**=वाणी के **भागम्**=भजनीय, वाच्य को **अश्नुवे**=प्राप्त करता हूँ।

व्याख्या—कठोपनिषद् [२।३।१२] में कहा है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

आत्मा न वाणी के द्वारा प्राप्त होता है, न मन से और न आँख से अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आत्मा का ज्ञान कराने में असमर्थ हैं, मन तो इन इन्द्रियों के बताये ज्ञान का धनी है, वह कैसे आत्मा का ज्ञान कराए। जिसको यह भान हो गया कि आत्मा है, उसे और कैसे बताया जाए?

उपनिषद् कह रही है—आत्मा **'न मनसा प्राप्तुं शक्यः'** मन के द्वारा नहीं मिल सकता, और मैं **निण्यः**=न्याणा हूँ। **मनसा सन्नद्धः**=मन के चक्कर में फंस गया हूँ, मन के बन्धन में बन्धकर जहाँ मन ले जाता है, वहाँ जाता हूँ, मैं न्याणा कैसे कहूँ, मैं क्या हूँ, कौन हूँ, **कैसा**=किस्वरूप हूँ ?' इस सबको **'न विजानामि'** मैं नहीं जानता हूँ।

अनुमान के द्वारा यदि कुछ जानूँगा, तो वह सामान्य ज्ञान होगा। धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होता है, किन्तु किसका अग्नि—तिनकों का, गोमय का या लकड़ी का, यह ज्ञान तो नहीं होता, यह तो प्रत्यक्ष से होता है। इसी प्रकार मृत शरीर और अमृत शरीर को देखकर किसी चेष्टा वाले का, चेष्टा की इच्छा वाले का ज्ञान करूँ तब भी **'यदि वेदमस्मि'** जो कुछ मैं हूँ, इसको नहीं जानता। यदि मैं अहङ्कार करूँ—**'सुवेदेति'** मैं भली-भांति जानता हूँ, तो साक्षात्कारी ऋषि कहते हैं—

दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ।

—केनो० २।९

सचमुच तू बहुत ही थोड़ा जानता है।

अतः मैं कहता हूँ—न विजानामि=मैं विशेष नहीं जानता हूँ। हाँ, यदि मुझ पर ईश्वर कृपा हो जाए, ईश्वर के दर्शन हो जाएं, तो मैं इस 'मैं'-'मैं' करने वाले को भी जान जाऊँ। वेद कह ही तो

रहा है–'यदा.........'भागमस्याः' । ऋषि इसी का अनुवाद कर रहे हैं–

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमत्मनः । —कठो० १।२।२०

विधाता की कृपा से ही निष्काम-कर्मा, अतएव शोक से रहित, राग-द्वेष से शून्य महात्मा ही आत्मा को देख पाता है ।

ईश्वर-कृपा कैसे मिले ? ईश्वर की अनन्य भक्ति से, सब ओर से चित्त हटाकर उस परम गुरु के अर्पण करने से । योगिराज पतञ्जलि ने कहा है–

ईश्वरप्रणिधानाद्वा । —यो० १।२३

ईश्वर की अनन्य भक्ति से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है । बाह्य विषयों से सर्वथा हट जाने का नाम निरोध है । जब वृत्तिनिरोध हो जाता है तब आत्मा के अन्दर बसने वाले अन्तरात्मा= परमात्मा के दर्शन और अनुग्रह होते हैं । उनका फल है–

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । —यो० १।२९

ईश्वर प्रणिधान से अपने चेतन स्वरूप का ज्ञान तथा विघ्नों का विनाश होता है । अपना-आपा जानना है तो ईश्वर प्रणिधान करो। उपनिषद् ने और योगदर्शन ने जो बात इशारों-इशारों में बतलाई, वेद ने उनसे करोड़ों वर्ष पहले बहुत स्पष्ट खोलकर रख दी है । पिता अपने पुत्रों को कैसे खोलकर न समझाए, वह क्योंकर छिपाए ? छिपाने से उसको पुत्रों का कल्याण नहीं हो सकता, किन्तु हम मन के फन्दे से फंसे उसे जानने की चेष्टा नहीं करते । मन प्रकृति का पुत्र है, उसने जीव को बाँध रखा है ! समझे ?

ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति का उपाय–भगवान् स्वभाव से कृपालु है । यह सृष्टि उसकी कृपा का सबसे बड़ा प्रमाण है । अपना कोई प्रयोजन न होते हुए परमेश्वर ने संसार रचा केवल जीवों के उद्धार के लिए । स्वाभाविक कृपालु की कृपा प्राप्त करना बहुत कठिन नहीं है । उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए अपने आत्मा और अन्तःकरण को उसकी ओर प्रवृत्त करो । परमात्मा मातापिता के समान कृपालु है । जब वह अपने वत्स जीव को अपनी ओर प्रवृत्त देखता है तो वह कृपालु अपने अनन्त शक्तिरूप हाथों से मानो उस प्रेमी को उठाकर अपनी गोद में बिठा लेता है ।

अनन्य मन से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना, तथा उसके आदेश में रहकर तदनुसार अपना आचरण बनाना, प्राणपण से–तन, मन, धन लगाकर लोकोपकार में अपने-आपको समर्पित कर देना, स्वार्थ त्यागकर परार्थ-साधन में तत्पर रहना, सदा सत्कर्मों को करना, अकर्मण्य न रहना, परमेश्वर के न्याय, दया, उपकार, आदि गुणों को अपने में धारण करना, विषय-वासना से ऊपर उठकर चञ्चल-चपल चित्त को अचल, अविचल करने का पुरुषार्थ करना आदि परमेश्वर की ओर प्रवृत्त होने के साधन हैं । जो इन साधनों को अपनाता है, अर्थात् उसे अपने अनुग्रह का पात्र बनाता है । जैसे बालक जब माता-पिता की ओर चलता है तब माता आगे आकर बालक को गोद में ले-लेती है कि कहीं बालक को चोट न लग जाए ! इसी भाँति जब कोई साधक सर्वात्मा जगदम्बा की ओर चलता है तो जगन्माता भी उसका स्वागत करती है, अत्यन्त प्रीति से अपनाती है, सब प्रकार के पाप सन्ताप, पातकों से बचाती है ।

भारत में सांता क्लाज कहाँ से आये

–धर्मपाल आर्य

क्रिसमस आते ही देश में लाखों की संख्या में सांता क्लाज की फौज क्यों उतर जाती है, और इसमें मजेदार बात ये है कि आधुनिक परिवार भी अपने बच्चों को वीर शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु गोविन्द सिंह बनायें या न बनायें पर क्रिसमस वाले दिन सांता जरुर बनाते हैं और अपने परिवार व रिश्तेदारों को फोटो भेजते हैं कि देखो हमारा बच्चा सांता बन गया।

ऐसे में मन में एक एक सवाल जरुर उपजता है कि आखिर काल्पनिक बुढ्ढा यानी सांता क्लाज का प्रचार करने की जरूरत क्यों महसूस हुई? असल में चौथी सदी के आखिरी दशकों और पांचवीं सदी में जेरूसलम ईसाई धर्म के तौर–तरीके तय करने का केंद्रीय मंच बन गया था। इस मंच पर अनेक किरदार मुख्य भूमिकाओं में थे। इन्हीं में से एक था रोम का जरोम। वह बिशप डामासस का सचिव था। डामासस भयंकर हिंसा के बाद बिशप चुना गया था और उसके लोगों ने विरोधी उम्मीदवार के सौ से ज्यादा समर्थकों की हत्या की थी। कुछ साल बाद रोम के बिशप के पद को ही अधिकृत रूप से पोप कहा जाने लगा था। बिशप बनते ही उसने रोम और आसपास के इलाकों को ईसाई तीर्थस्थल में बदलने के लिए कोशिशें शुरू कर दीं।

रोम में ईसाइयत के शुरुआती दिनों से जुड़ी जगहों को चिन्हित किया गया तथा इतिहास पर मनगढ़ंत किस्सों का लेप भी चढ़ाया गया। इस सिलसिले में डामासस ने रोम में ईसाइयत को आगे ले जाने वाले धर्मदूतों का काल्पनिक निर्माण किया। लोग जरोम की हिंसा से त्रस्त थे और ईसाइयत उनकी नजरों में खूनी पंजा बन चुकी थी। अब यहीं से शुरू हुआ एक नया खेल संत निकोलस यानि सांता क्लाज का !! जिसके द्वारा ईसाइयत को काफी फैलाया गया और सांता बनाकर यानि अपने लोगों का भेष बदलकर ये काल्पनिक संत निकोलस पैगन सभ्यता को कुचलने के लिए उतार दिए गये। काफी लोग आक्रोशित थे यदि कोई ईसाई धर्म प्रचारक दिन में मिल जाता तो कूट देते थे तो सांता आधी रात चुपके से लोगों के घरों में कुछ ना कुछ रख आते। ये लोगों के लिए चमत्कार जैसा था इसी कारण बच्चों को जल्दी सुला दिया जाता। आज भी कई जगह ऐसा ही होता है अगर बच्चे जल्दी नहीं सोते तो उनके सांता अंकल उन्हें उपहार देने नहीं आते हैं। धीरे धीरे लोगों का विश्वास ईसाइयत पर बढ़ने लगा और जब रोम में इसका सफल प्रयोग हुआ तो ये सांता अगली जगह भेज दिए गये।

गरीब बस्तियां और गरीब देश चिन्हित किये जाते और उनमें चुपके से सांता उतार दिए जाते सबकी ड्रेस एक जैसी थी तो लोगों को लगता कि ये एक ही सांता है, जो उपहार बाँट रहा है किन्तु असल में ये पूरी फौज थी जो पिछले कुछ सालों से भारत में भी स्कूलों कालेजों बस्तियों में अपना काम कर रही है।

अब ये सांता के बाद क्रिसमस की बात करें तो उसका भी सांता जैसा ही हाल है। असल में एक कहावत है कि किसी देश को गुलाम बनाना हो तो उस देश की संस्कृति उत्सव और उसके महापुरुषों देवी देवताओं की जगह अपने बैठा दो वो देश स्वतः ही गुलाम बन जायेगा। इसी का अनुकरण करते हुए मुम्बई में ईसाइयों की सबसे बड़ी संस्था

द्वारा लिखी गयी एक पुस्तक है "दा प्लेन ट्रूथ वर्ल्ड वाइड चर्च ऑफ गॉड" उसमें लिखा है कि चाहे सही हो या गलत आम लोग पिछलग्गू होते हैं। जैसे भेड़ दूसरों के पीछे चुपचाप कत्लखाने में भी प्रविष्ट हो जाती है। भारत में ये बात सटीक बैठती है। ईसाई मिशनरीज ने यहाँ लोगों को भेड़ के रूप में देखा और इसका भरपूर प्रयोग किया। जैसे क्रिसमस त्यौहार को ही लीजिये, न बाईबल में उसका कोई स्थान है और न ईसामसीह ने जिन्हें धर्मोपदेश दिया उन मूल शिष्यों ने भी क्रिसमस त्यौहार का कोई उल्लेख किया है।

सन 1964 में प्रकाशित आंग्ल ज्ञानकोश कहता है, क्रिसमस त्यौहार ईसाईयों का नहीं है पर अगर उसी को निकाल दिया जाए तो ईसाइयत में कुछ नहीं रहता, इसाईयत खोखली बन जाएगी क्योंकि वही तो सबसे सबसे बड़ा पर्व है। वह समाप्त हो गया तो ईसाइयत ही समाप्त हो जाएगी। एक पश्चिमी लेखक हुए नाम था एडम क्लार्क उन्होंने एक पुस्तक लिखी "कमेंट्री"। वो लिखते हैं कि जीसस 25 दिसम्बर को नही जन्मे थे, क्योंकि उन दिनों भेड़ चरने नहीं निकलते हैं। जीसस के जन्मदिन का कोई पता ही नहीं है। इसी बात को इतिहासकार पी एन ओक लिखते हैं, कि चौथी शताब्दी में मुट्ठी भर लोगों के इस पंथ को रोमन सम्राट कोंसटेंटाइन और उसके शक्तिशाली रोमन सेना का समर्थन प्राप्त होते ही वेटिकन जिसे पहले वाटिका कहा जाता था उक्त वैदिक धर्मस्थल पर कब्जा कर लिया। वहाँ के वैदिक मठाधीश का कत्ल कर वहाँ ईसाई पुजारी बैठा दिया और रोमन लोगों की अधिकांश प्रथाओं पर धीरे-धीरे ईसाइयत का ठप्पा लगा दिया।

इतिहासकार पी. एन. ओक लिखते हैं कि राम-नगर रोम की वाटिका अब वेटिकन हजारों वर्षों से वैदिक आर्य संस्कृति और धर्म का केंद्र होने से वेटिकन में सूर्य उत्तरायण का पर्व 25 दिसम्बर को बड़ी धूम धाम से मनाया जाता था। उस समय के ईसाईपंथी नेताओं ने चालाकी यह कि रोम के सबसे उल्लासपूर्ण और दीर्घतम सूर्य उत्तरायणी उत्सव से ही ईसा के कपोलकल्पित जन्म का नाता जोड़ दिया।

सूर्य देवता और सूर्य उत्तरायणी उत्सव सिर्फ इटली के एट्रूस्कन लोगों में ही प्रचलित नहीं था बल्कि यूरोप के ड्रुइडस अथवा सेल्टिक सभ्यता, ईजिप्त, ग्रीक आदि देशों में भी प्रसिद्ध था। इसका प्रमाण सन 1964 में प्रकाशित आंग्ल ज्ञानकोश में मिलता है। जिसमे लिखा है कि सम्राट कोंसटेंटाइन ने रविवार ईसाईयों को धार्मिक और छुट्टी का दिन इसलिए घोषित किया क्योंकि ईसवी पूर्व की धार्मिक प्रणाली में रविवार सूर्यपूजन का तथा छुट्टी का दिन होता था। कट्टर ईसाई इस सच्चाई से भली भांति परिचित हैं कि क्रिसमस ईसापूर्व काल से उस वैदिक संस्कृति का हिस्सा है, जिसका झूठा विरोध कर और जिसकी अनावश्यक बुराई कर ईसायत लोगों पर थोपा गया। इसलिए कट्टर ईसाई और धर्मगुरुओं तथा शासकों ने न केवल क्रिसमस का विरोध किया बल्कि कई बार वे क्रिसमस पर प्रतिबन्ध लगाने में भी सफल हुए।

सन 1660 में अमेरिका में एक कानून के द्वारा क्रिसमस त्यौहार पर रोक लगानी चाही। उसमें लिखा था, आम जनता को यह आदेश दिया जाता है कि क्रिसमस मनाना ईसाई धर्म का उल्लंघन है। इसके बाद 17 वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में भी क्रिसमस मनाने पर यह कहकर प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि क्रिसमस त्यौहार पेगन, पपिस सभ्यता का प्रतीक है। जरा शब्दों पर गौर कीजिये--क्रिसमस पर क्या-क्या आरोप लगाये गये थे। पेगन यानि मूर्तिपूजक या भगवानवादी लोग, पपिस यानि पापहर्ता वैदिक धर्मगुरु यानि मूर्ति पूजा प्रणाली वाला पर्व है।

(शेष पृष्ठ 25 पर)

उपमा प्रमाण और अलंकार

–उत्तरा नेरूर्कर, बंगलौर (मो०-९८४५०५८३१०)

न्याय शास्त्र में उपमान, अथवा उपमा, को प्रमाणों में गिना गया है । परन्तु अलंकार शास्त्र में उपमा अलंकार भी मानी गई है । सो, क्या यह एक ही वस्तु है अथवा भिन्न ? इस लेख में मैं अपने कुछ विचार प्रस्तुत कर रही हूँ । विद्वज्जन इस पर अवश्य अपनी टिप्पणी दें ।

इससे पहले कि हम उपमा की चर्चा करें, हम अलंकार शास्त्र में पाए जाने वाले कुछ अन्य अलंकारों को देखते हैं, जिनकी संज्ञा तो दर्शनशास्त्रों से मेल खाती है, परन्तु उनका अलंकार रूप भिन्न है–यह अलंकार शास्त्र ने स्वयं बताया है ।

अनुमान–यहाँ पहले देखते हैं अनुमान। प्रमाण के रूप में हम इसे भली-भाँति जानते हैं, जहाँ प्रत्यक्ष के आधार पर, तर्क के अनुसार कुछ निष्कर्ष निकाला जाता है, यथा–सूर्य गगन में इस समय ऊपर है, तो दोपहर हो रही होगी । इस ज्ञान का उत्पन्न करने के कारण यह प्रमाण हुआ । अलंकार में कुछ भेद होता है, यथा–अवश्य ही यह अपने प्रियतम का स्मरण कर रही है, क्योंकि इसको अपनी सुध-बुध नहीं है । यहाँ कार्य-कारण भाव तो है, परन्तु उसमें केवल सम्भाव है, निश्चितता नहीं है। स्पष्टतया यह वाक्य ज्ञानोत्पत्ति के लिए नहीं है, अपितु रसोत्पत्ति के लिए है । इसको पढ़कर हममें रोमाँच उत्पन्न होता है, जबकि पूर्व वाक्य नीरस सा है । यह भेद अलंकार शास्त्र में स्पष्टतया निरूपित है । मैं तो कहूँगी कि आज जो लोक में हम अनुमान शब्द से 'सम्भावना' अर्थ समझते हैं, और उसको निश्चित ज्ञान का माध्यम नहीं मानते, उसका कारण यह अलंकार शास्त्र की समान संज्ञा, परन्तु भिन्न प्रयोग है, क्योंकि आज अलंकार शास्त्र लोक में अधिक प्रिय है, न्यायशास्त्र कम।

सामान्य–सामान्य न्याय में समान धर्म का द्योतक होता है, परन्तु वैशेषिक के अर्थ में अधिक प्रसिद्ध है-- दो और दो से अधिक वस्तुओं के बीच समान पदार्थरूप धर्म, यथा–गौ वह है जिसके गले से चर्बी लटकी हो; सो, वह चर्बी गौओं का सामान्य हुआ । अब यह एक अलंकार भी होता है, जहाँ दो या उससे अधिक वस्तुओं के धर्म की समानता के कारण एक वस्तु दूसरों को छुपा देती है । जैसे–चाँदनी रात में चन्दन से लिपटी सुन्दरी जैसे गायब हो गई–इस वाक्य में, चाँदनी और चन्दन-जनित श्वेत वर्ण के साम्य को लेकर, कवि चाँदनी से नायिका को 'ढक' देता है । पुनः हम यहाँ देखते हैं कि न्याय-वैशेषिक में ज्ञानोत्पत्ति के लिए सामान्य को परिभाषित किया गया है, जबकि अलंकार शास्त्र में रसोत्पत्ति प्रकार के अनुसार सामान्य का विभागीकरण किया गया ।

यही भेद हम अन्य अलंकारों में देखते हैं जो दर्शनशास्त्रों से संज्ञासाम्य रखते हैं, जैसे–हेतु, विशेष, व्याघात, अर्थापत्ति, विकल्प, व्यतिरेक, अन्योऽन्य आदि । इन सभी में अलंकार शास्त्र स्वयं दर्शाता है कि ये अलंकार दर्शनों के तथ्यों से भिन्न हैं । (इस से यह भी ज्ञान होता है कि अलंकार शास्त्र ने ये कल्पनाएं दर्शनों से ग्रहण की हैं, और इसलिए वह निश्चित रूप से परवर्तीय ग्रन्थ है।)

आश्चर्य की बात यह है कि उपमा को इस प्रकार विशेषित नहीं किया गया । अपितु उपमा का जो विस्तृत वर्णन अलंकार शास्त्र में प्राप्त होता है, उसके अंश दर्शनों को समझने में प्रयोग किए गए हैं । जैसे कि उपमा के चार अंश –उपमेय, उपमान, उपमावाचक और सामान्य धर्म–दर्शन शास्त्रों में

अलग-अलग वर्णित नहीं मिलते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि ये अलंकार शास्त्र की देन हैं। फिर इनमें से एक या अनेकों के लोप के अनुसार उपमा का वर्गीकरण भी परवर्तीय दर्शन-भाष्यों ने अपना लिया लगता है। सम्भवतः, इसी कारण से अलंकार शास्त्र में भी उपमा अलंकार को प्रमाण से भिन्न नहीं कहा गया है। परन्तु मेरे अनुसार भेद तो स्पष्ट है ! न्याय का एक प्रसिद्ध उदाहरण है-कोई व्यक्ति नीलगाय देखने जंगल जा रहा है, परन्तु उसको नीलगाय के लक्षण नहीं ज्ञात हैं, तो वह किसी जानकार से पूछता है। जानकार कहता है, "नीलगाय गाय जैसी होती है।" गाय की उपमा प्रवासी के लिए पर्याप्त होती है और वह जंगल में नीलगाय को पहचान लेता है। इस प्रकार उपमान (न) प्रमाण से ज्ञान की उत्पत्ति हो गई। दूसरी ओर अलंकार शास्त्र में उपमा का प्रसिद्ध उदाहरण है-चाँद जैसे मुख वाली स्त्री-चंद्रमुखी। यहाँ स्त्री की सुन्दरता को दर्शाने के लिए चाँद का प्रयोग किया गया है, परन्तु यह किसी नए ज्ञान को नहीं प्रकट करता, केवल रसपूर्ण ढंग से स्त्री की सुन्दरता की छवि प्रस्तुत करता है। यह प्रयोग दर्शनशास्त्रों में मान्य नहीं होगा। चरणकमल, मृगनयनी, आदि इसी प्रकार के अन्य प्रयोग हैं। दूसरी ओर नीलगाय वाला उदाहरण काव्य में अलंकार नहीं माना जाएगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपमा प्रमाण रूप में कुछ और है, और अलंकार रूप में कुछ और।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उपमालंकार निरर्थक है, या केवल रसोत्पत्ति करता है-उपमा भी कुछ ज्ञान प्रदान करती है, जैसे-चन्द्रमुखी की उपमा में मुख की सुन्दरता का अवश्य ग्रहण होता है। परन्तु उस ज्ञान की अपेक्षा, आनन्द की अनुभूति अधिक होती है। इसको ऐसे भी समझ सकते हैं कि अलंकार में सामान्य धर्म पूर्णतया सामान्य नही होता, परन्तु कवि की प्रतिभा से वह सामान्य 'बनाया' जाता है, वह कृत्रिम साम्य होता है। जैसे 'चरण' और 'कमल' की सुन्दरता में कोई सामान्य नहीं है, परन्तु कवि ने अपनी विलक्षण बुद्धि से उनमें समानता को जन्म दे दिया, जिसने हममें विचित्र आनन्द की अनुभूति उत्पन्न कर दी, जिसे अलंकार शास्त्र में 'रस' कहा जाता है।

फिर प्रश्न उठता है कि वेद तो ज्ञानग्रन्थ भी हैं और काव्य भी , तो उनमें उपमा का कौन-सा प्रयोग मिलता है-प्रमाण का अथवा अलंकार का ? निरुक्त आदि में जो उद्धरण प्राप्त होते हैं, उनसे प्रतीत होता है कि वेदों में प्रमाणरूप उपमा ही प्राप्त होती है, जैसे-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रोऽजायत ॥ यजुर्वेदः ३१।११॥

पुरुष सूक्त का यह प्रसिद्ध मन्त्र समाज के विभागीकरण की शिक्षा तो देता ही है, परन्तु अनिर्वचनीय परमात्मा के विषय में भी ज्ञान देता है। अर्थ है-उस मानवाकार के रूप में कल्पित पुरुष-परमेश्वर का मुख ब्राह्मण-वर्ग है; उसकी दो बाहुएं क्षत्रिय-वर्ग हैं; उसकी उरु वैश्य-वर्ग हैं; और उसके पैर शूद्र वर्ग हैं। यहाँ स्पष्ट ही है कि परमात्मा का यह वास्तविक स्वरूप नहीं है। परन्तु वह रूप तो शब्दों में समा ही नहीं सकता ! इसलिए विभिन्न उपायों से हम उसको समझने का यत्न करते हैं। उनमें से एक यह है। ये चार वर्ण वस्तुतः प्रभु के ही कार्य करते हैं, परन्तु अपनी अपनी योग्यतानुसार। ब्राह्मण उसका उपदेश जानते हैं, क्षत्रिय उसकी न्यायपूर्ण व्यवस्था को स्थापित करते हैं, वैश्य उसके दिए विभिन्न धनों की वृद्धि कर उनकी अन्यों के लिए उपलब्ध कराते हैं और शूद्र इन सब वर्णों की गति प्रदान करने के लिए आवश्यक सेवा-कार्य करते हैं। इस प्रकार यहाँ ब्राह्मण आदि वास्तविक रूप में ईश्वर के अंग नहीं हैं, परन्तु उपमान के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं-सर्वत्र 'इव' अर्थात् 'जैसा' यहाँ अभिप्रेत है, उसे जोड़ना आवश्यक है। परमात्मा और वर्णव्यवस्था

का ज्ञान देने के कारण, यह उपमा (न) प्रमाण है, न कि उपमा अलंकार। इस प्रकार उपमा प्रमाण का प्रयोग वेदों में यत्र-तत्र प्राप्त होता है, परन्तु इन स्थलों पर उसको 'उपमा अलंकार' कहना सही न होगा।

मैंने पाया है कि अलंकार रूप में भी उपमा का प्रयोग वेदों में अनेकत्र दृष्टिगोचर होता है–

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।

उशतीरिव मातरः॥ यजुर्वेदः ३६।१५॥

यहाँ स्तोता प्राणिदायक जलों को जैसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं–हे जलो! जो तुम्हारा सबसे कलयाणकारी रस है, तुम हमें उसका सेवन कराओ, जिस प्रकार सन्तान को दूध पिलाने के लिए माताएं आतुर होती हैं। यहाँ माताओं की उपमा से जल के कल्याणकारी तत्त्व के ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती, परन्तु उपमा से प्रार्थना की रुचि अवश्य बढ़ जाती है–हम जैसे अपने मन में चित्र बना सकते हैं कि जल भी, माँ के सदृश, हमें स्वादिष्ट, पुष्टिवर्धक तत्त्व देने को उद्यत हो रहे हैं। महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में बताया कि होम से जो जल पवित्र हो जाते हैं, उनका यहाँ कथन है। उन्होंने मन्त्र में उपमालंकार होने का भी कथन किया है। वस्तुतः यहाँ उपमा अलंकार ही है, प्रमाण नहीं। उपर्युक्त **"ब्राह्मणोस्य....."** मन्त्र में महर्षि दयानन्द ने उपमा अलंकार नहीं कहा है, प्रत्युत कुछ भी नहीं कहा है। तथापि, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ महर्षि उपमा के प्रमाण स्वरूप का अनुमोदन कर रहे हैं। अपने सीमित स्वाध्याय के अनुसार, मुझे लगता है कि महर्षि ने भी अपने वेदभाष्य में उपमा अलंकार और प्रमाण में कहीं भी भेद नहीं किया है–कहीं भी **"इस मन्त्र में उपमा प्रमाण है"**, ऐसा नहीं लिखा है।

उर्वशी-पुरूरवा, सरमा-पणि आदि की जो सनातन आख्यायिकाएं वेद में प्राप्त होती हैं, उनको भी उपमालंकार के रूप में समझना चाहिए। इस प्रकार उपमालंकार के भी उदाहरण वेदों में उपलब्ध होते हैं।

उपमा के विषय पर चर्चा होने से, यहाँ यास्कीय निरुक्त का वचन बताना भी प्रसंगानुकूल होगा। निरुक्त ने केवल उपमा प्रमाण की चर्चा की है, उपमालंकार की नहीं। यास्क ने उपमार्थक चार निपात गिनाए हैं–इव, न, चित्, नु। इनमें एक 'इव' ही एकार्थक है, 'जैसे' के अर्थ में अन्यों के अन्य भी अर्थ हैं। इन सब के विषय में भी थोड़ा समझ लेते हैं।

(१) इव–इसका उदाहरण-मन्त्र दिया गया है–**"अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व..... (ऋग्वेदः १०।८४।२)**–अर्थात् सात्त्विक रोषयुक्त राजन्! आप अग्नि के समान ज्वलन्त होकर शत्रु को अभिभूत कीजिए। यहाँ राजा के तेजस्वी गुण को उपमार्थक 'अग्नि' प्रदर्शित करता है और उसकी नाश-शक्ति को भी कहता है। इसलिए यहाँ उपमा प्रमाण ही है, अलंकार नहीं।

(२) न–यह शब्द लौकिक भाषा के समान वेदों में भी प्रतिषेधार्थक तो होता ही है, परन्तु वेदों में इसका उपमावाचक के रूप में भी प्रयोग मिलता है, यथा–**"हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम....(ऋग्वेदः ८।२।१२)"**–अर्थात् मन भर के सात्त्विक दूध, दही, आदि को पीकर, मनुष्य अपने दुर्स्वभावों से उस प्रकार लड़ता है, जैसे कि सुरापान किया हुआ व्यक्ति उन्मत्त होकर लड़ता है। यहाँ मदमस्त शराबी की तुलना सात्त्विक आहार ग्रहण करने वाले व्यक्ति से उसके बल का ज्ञान कराने के लिए की गई है। यह सामान्य धर्म 'बल' दोनों में वास्तव में समान है, न कि मुख और चन्द्र के समान कुछ अलौकिक सामान्यता लिए हुए। इसलिए यह प्रमाण है, अलंकार नहीं।

निषेधार्थक 'न' का उदाहरण यास्क देते हैं–**"...नेन्द्रं देवममंसत...(ऋग्वेदः १०।८६।१)"**

–अर्थात् तुम सब (गृहस्थी) इन्द्र-देव (=जीवात्मा) को न जान सकोगे (यदि यज्ञ नहीं करोगे)। निषेधार्थक और उपमावाचक 'न' को पता करने के लिए यास्क एक अद्भुत उपाय देते हैं–निषेधार्थक 'न' लक्षित शब्द के पूर्व आता है, यथा–"इन्द्रं", और उपमार्थक 'न' लक्षित शब्द के पश्चात् आता है, यथा– "दुर्मदासो न"। वेदों का अर्थ करने वालों के लिए यह एक अनमोल 'टिप' है !

(३) चित्–यह शब्द वेदों में तीन अर्थों में पाया जाता है–एक पूजा के अर्थ में, दूसरा उपमावाचक के रूप में और तीसरा अन्य पदार्थ की निन्दा करने के लिए। इनमें उपमा का उदाहरण इस प्रकार है–

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादानिधातोः ।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥ ऋग्वेदः १।४१।९ ॥

अर्थात् जैसे जुए में एक खिलाड़ी के द्वारा चार पांसे फेंकते समय दूसरा खिलाड़ी घबराता है कि क्या पांसा पड़ने वाला है, उसी प्रकार धर्मभीरू व्यक्ति को दुर्वचन की इच्छा नहीं करनी चाहिए (क्योंकि पांसे के समान वह क्या फल देगा, यह अनिश्चित है)। यहाँ रोचक ढंग से कठोर वचन से बचने का निर्देश है। इस कारण यहाँ कुछ सन्देह होता है कि यह अलंकार है या फिर प्रमाण, तथापि भय जो यहाँ सामान्य धर्म है, वह दोनों उपमान और उपमेय में एकदम बराबर है। इसलिए यहाँ प्रमाण मानना ही सम्यक् है, न कि अलंकार।

(४) नु–यह भी अनेकार्थक निपात है, जिसके यास्क मुनि ने तीन अर्थ गिनाए हैं–हेतु, निश्चय के लिए पुनः पूछने के अर्थ में और उपमावाचक के रूप में। इस अन्तिम का उदाहरण है–

अक्षो न चक्र्योः शूर बृहन् प्र ते मह्ना रिरिचे रोदस्योः ।
वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यूतयो रुरुहुरिन्द्र पूर्वीः ॥ ऋग्वेदः ६।२४।३ ॥

अर्थात् हे पराक्रमी, बहुतों द्वारा पुकारे जाने वाले, परमैश्वर्यवान् परमात्मन् ! चक्रों की धुरी के समान आपने पृथिवी और सूर्य को बांध रखा है–यह तथ्य आपकी बड़ी महिमा को प्रकट करता है। (और) वृक्ष की फैली हुई शाखाओं के समान, आप की विविध प्रकार की रक्षण क्रियाएं प्राचीन काल से (ब्राह्माण्ड की उत्पत्ति के समय से) प्रादुर्भूत हुई हैं (और सर्वत्र व्याप्त हो रही हैं)। यहाँ दोनों 'न' और 'नु' को हम उपमावाचक के रूप में पाते हैं। और दोनों ही उपमाएं परमात्मा की शक्तियों को सफलतापूर्वक प्रमाणित कर रही हैं, इसलिए यहाँ उपमा प्रमाण है।

उपर्युक्त से ज्ञात होता है कि उपमा प्रमाण और समान-संज्ञक अलंकार में भेद है, और वे दोनों ही प्रकार वेदों में पाए जाते हैं, क्योंकि वेद ज्ञान का प्रकाश ही नहीं करते, परन्तु काव्य के भी मूलग्रन्थ है, जिसके कारण उनमें विभिन्न रस भी पाए जाते हैं। प्रमाण और अलंकार का भेद अलंकार शास्त्र में उपमा के विषय में स्पष्टतया नहीं कहा गया है, इसलिए जहाँ भी उपमा पाई जाती है, वहाँ उपमा अलंकार मान लिया जाता है। यह सही नहीं है, इसी को प्रकट करना मेरा इस लेख में मुख्य उद्देश्य था। तथापि, जैसा कि हम उपर्युक्त उदाहरणों में देखते हैं, प्रमाण के रूप में वेदों में उपमा अधिक प्रतीत होती है, जो कि होना भी चाहिए, क्योंकि प्रमुखतया वेद ज्ञानग्रन्थ हैं। साथ ही यास्कीय निरुक्त के आधार पर, वेदों के उपमावाचक पदों से हमारा परिचय हुआ। इससे ज्ञात हुआ कि वेदों के अर्थ करने में कितनी प्रकार की क्लिष्टताएं आड़े आ सकती हैं, और यह कार्य ऋषियों के हाथ में छोड़ना ही क्यों सार्थक है !

(नोट : स्वाध्यायशील लेखिका ने एक नया विषय अध्ययन/विचार के लिए प्रस्तुत किया है। विद्वान् एवं विचारशील पाठकों/लेखकों से अनुरोध है कि लेख पर अपनी तर्कपूर्ण लेखनी से विषय को संपुष्ट करें। –सम्पादक)

❑❑

दलितोद्धार की आड़ में (६)

—राजेशार्य आट्टा पानीपत-१३२१२२, (मो०: ०९९९१२९१३१८)

प्रिय पाठक वृन्द ! दलित साहित्य लेखन का विवरण व निर्देश देते हुए लेखक ने लिखा है–"दलित साहित्य विचारों की बारूद है जो वैचारिक क्रान्ति फूंक कर इंसान को नवजीवन में ढालता है, उनका 'ब्रेनवाश' करके उत्थान, उन्नति और विकास की ओर उन्मुख करता है । अब दलित साहित्यकार जागृत है, सजग है और सक्रिय है और उसकी लेखनी से निकला एक-एक शब्द बंदूक की गोली से किसी तरह कम नहीं और अब वह सामाजिक विषमताओं का समूल सर्वनाश करके ही दम लेगा।" (पृ० १३, १९)

समीक्षा :—साहित्य तो सबके भले के लिए ही होता है और उसे ऐसा होना भी चाहिए। साहित्यकार को भी सजग और सभी भेदभावों से ऊपर होना चाहिए । बारूद, गोली की तरह विनाशकारी शब्द लिखने से किसका हित होगा? अपने अज्ञानी व जाति अभिमानी बन्धुओं के कारण अतीत के महापुरुषों से घृणा व द्वेष करना सिखाना, राम-कृष्ण के वंशजों को रावण महिषासुर की संतान बताना, सभी प्राचीन परम्पराओं का त्याग करवा कर दलित बन्धुओं को विशाल समाज से घृणा करना सिखाना क्या यही ब्रेनवाश है ? वेदों की प्रार्थनाएँ, जो आध्यात्मिक व भौतिक शत्रुओं को जीतने के लिए की गई हैं, वे किसी व्यक्ति, समाज या जाति से नहीं बंधी हैं, उन्हें कोई भी कर सकता है । पर उन्हें भी आर्यों द्वारा दलितों को जीतने के लिए बताना घृणा की पराकाष्ठा है । वैसे तो लेखक बार-बार लिखता है कि आर्यों ने दलितों को अपमानित किया, लूटा, दास बनाया, जूठा खाने, उतरन पहनने व जमीन पर सोने के लिए बाध्य किया, पर साथ में यह भी लिखता है—"हमारा दुश्मन (आर्य) अगर हमारी (दलितों की) शक्ति के सामने डरकर अपने भगवान से हमें परास्त करने के लिए शक्ति की याचना करता है तो यह भी हमारी वीरता, शूरता, पराक्रम एवं वैभव को दर्शाने वाला है ।" "अपने अधिकारों के लिए दलितों का आन्दोलन किसी न किसी रूप में निरन्तर चलता रहा जो विभिन्न युगों से गुजरता हुआ आज भी जारी है ।" (पृ० ३०)

समीक्षा :—हजारों-लाखों वर्ष पूर्व हुए लोगों के प्रति वर्तमान का कोई व्यक्ति अपनी शत्रुता की कल्पना करे और फिर उसे वर्तमान के लोगों पर थोपे, तो इसे मानसिक रोगी का भावावेश ही कहा जा सकता है, किसी साहित्य अकादमी के राष्ट्रीय अध्यक्ष का वचन नहीं । दलित साहित्य लेखन के चक्कर में लेखक आर्यों की व उनके प्राचीन ग्रन्थों की चाहे कितनी भी निन्दा करे, पर उनके बिना दलित साहित्य की रचना सम्भव नहीं है । लेखक चाहे अपनी इच्छा से अथवा किसी बाहरी विचारधारा के दबाव से अपने आपको आर्यों से अलग दिखाना चाहता हो, पर लाठी मारने से पानी अलग नहीं हो सकता ।

क्योंकि लेखक ने लिखा है–**"सर्वे भवन्तु सुखिनः" "वसुधैव कुटुम्बकम्", "बहुजन सुखाय बहुजन हिताय", "अप्पो दीपो भव", 'सोहम'**– दलित संस्कृति के उद्घोषित आधार हैं । विश्व के हर कण में हमने जीव के दर्शन किए हैं । ध्यान और समाधि हमारी आध्यात्मिक

पद्धति है ।" (पृ० ६४)

समीक्षा :—ये सभी सूक्तियाँ आर्यों के संस्कृत ग्रन्थों क्रमशः गरुड़ पुराण व विक्रमोर्वशीयम्, हितोपदेश, चाणक्य, बुद्धवाक्य व यजुर्वेद से ली गई हैं । कण-कण में जीव, ध्यान-समाधि आदि गीता, योग् दर्शन, उपनिषद् व वेदों के विषय हैं। यद्यपि लेखक ने पृ० १८ पर आध्यात्मिक शब्द को निषेध शब्दावली में रखा है, पर यहाँ इसे अपनी पद्धति कह रहा है । हम तो इस सत्य को कभी से कह रहे हैं कि दलित आर्यों के अंग हैं, विरोधी नहीं । पर लेखक बार-बार महासागर को छोड़कर कुएँ का मेंढक बनना चाहता है । 'बहुजन हिताय' व 'अप्पो दीपो भव' यह महात्मा बुद्ध का वचन है । विश्व प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष ने 'बुद्ध चरितम्' में उन्हें इक्ष्वाकुवंशी आर्य लिखा है । उन्होंने न तो कोई ग्रन्थ लिखा और न नया मत चलाया । बौद्ध मत तो उनके चेलों की देन है । चेलों के स्वार्थ के कारण ही आज बौद्ध मत बहुत से भागों में बंट चुका है । आज के समय डॉ० अम्बेडकर के नाम पर बौद्धवाद की जगह अम्बेडकरवाद चलाकर अलगाव फैलाया जा रहा है । वास्तव में इन लेखकों को न तो महात्मा बुद्ध से और न बौद्ध सिद्धान्तों से प्रेम है । इन्हें तो बौद्ध मत इसलिए प्यारा है कि डॉ० अम्बेडकर अन्तिम समय में बौद्ध बन गये थे । अम्बेडकरवादी बौद्धों में प्रथम स्थान पर डॉ० अम्बेडकर हैं, महात्मा बुद्ध उनसे कहीं पीछे हैं । इनका बौद्ध बनना बौद्ध सिद्धान्तों के प्रति आस्था होना नहीं, अपितु हिन्दुओं के प्रति घृणा है ।

दलितों के साथ अन्याय

(क) इसीलिए तो लेखक ने लिखा है– "इस देश में बुद्ध और महावीर को क्षत्रिय राजकुमार होने के कारण समाज का सिरमौड़ बना दिया गया, वहीं आडम्बर पाखण्ड, धर्मान्धता के विरुद्ध बिगुल बजाने वाले कबीर और रविदास को शूद्र मानकर उनके समतावादी, मानवतावादी आन्दोलन को इतिहास में स्थान नहीं देकर कुचल दिया गया ।" (पृ० ५७-५८)

(ख) "इस देश में 'रामायण' लिखने वाला आदिकवि वाल्मीकि अछूत कैसे हो गया? और वर्ण व्यवस्था का कट्टर समर्थक 'रामचरित मानस' का लेखक गोस्वामी तुलसीदास कैसे पूजनीय हो गया ।"

(ग) "वो कौन सा नजरिया है जो विदेशी आक्रमणकारी हूण, कुषाण, लोदी, तुगलक, मुगल को तो विदेशी मानने को तैयार नहीं, पर अंग्रेजों को विदेशी करार देता है ?"

(घ) "संकीर्ण मानसिकतावादी हिन्दू इतिहासकारों ने इस (१८५७) विद्रोह का सारा श्रेय मंगल पाण्डेय को देकर उसे हीरो बना दिया, और असली हीरो मातादीन भंगी समय की परत में नीचे दबकर रह गया ।..... आजादी की इस लड़ाई में वीरांगना झलकारी बाई ने झांसी में अंग्रजों से लोहा लिया, पर श्रेय महारानी लक्ष्मीबाई को दिया गया ।" (पृ० ५९)

(ङ) "एक पक्षीय नजरिये का ही परिणाम है कि जिस उधमसिंह को भगतसिंह और देश भक्त सुभाष की श्रेणी में रखा जाना चाहिए था, वहाँ अछूत जाति का वीर होने के कारण उसे इतिहास में समुचित स्थान नहीं दिया गया ।" (पृ० ६०)

समीक्षा :—(क) बुद्ध और महावीर को सिरमौड़ बनाने वाले कौन थे, लेखक ने आगे पृ० ६८ पर लिखा है–"इस ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था के विरुद्ध जब पहली बार महात्मा बुद्ध ने शंखनाद किया, तो ये ही मूल निवासी शूद्र उन लोगों में सबसे आगे थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकारा

और उसे आगे बढ़ाया, बौद्ध धर्म में उन्हें समता, सम्मान, न्याय, बंधुता और सौहार्दता मिली, और बराबर के मानवीय अधिकार प्राप्त हुए ।......इसी तरह जब महावीर स्वामी ने......जैन धर्म प्रतिपादित किया, तो बहुत से मूल निवासी शूद्रों ने हिन्दू धर्म की हिंसा व नरबलियों से परेशान होकर जैन धर्म की शरण ली ! आज जो वैश्यों में 'गुप्त' हैं उनमें से अधिकांश का रक्त सम्बन्ध शूद्रों के पूर्वजों से है ।" अर्थात् बुद्ध और महावीर को सिरमौड़ बनाने वाले थे शूद्र (दलित)। यदि यह कार्य अच्छा था तो इसका श्रेय मिलेगा दलितों को और यदि बुरा था तो इसका दोष दिया जाएगा हिन्दुओं को, यह कैसा सिद्धान्त है ? हम मानते हैं कि महावीर बुद्ध ने मानव की समानता पर जोर दिया और बौद्ध जैन बने दलितों को वहाँ समानता मिली अर्थात् वहाँ वे दलित नहीं रहे, तो पृ० ३८ पर लेखक ने यह क्यों लिखा कि पुष्यमित्र शुंग के काल में दलित (अछूत) बौद्धों को अपनी जान बचाने के लिए फिर पलायन करना पड़ा ।

(ख) महर्षि वाल्मीकि व उनकी रचना 'रामायण' को देश ही नहीं, विदेशों मे भी सम्मान मिला है । वे प्रचेतस मुनि के पुत्र थे, दलित नहीं। यदि लेखक उन्हें दलित मानता है तो दलित व्यक्ति को संस्कृत का विद्वान् कवि बनाकर उसे महर्षि की पदवी देने वाले आर्यों पर दलितों के लिए विद्या के द्वार बन्द करने का आरोप किस मुँह से लगा रहा है? महर्षि वाल्मीकि संस्कृत काल में हुए थे व हजारों-लाखों वर्ष वे लोकप्रिय रहे, जबकि तुलसीदास हिन्दी काल में हुए, तो हिन्दी भाषी लोगों में उनका लोकप्रिय होना स्वभाविक था । यूँ तो मन्दिरों में व घरों में महर्षि विश्वामित्र, गौतम, कपिल, कणाद, मनु, वेदव्यास, पतञ्जलि, जैमिनि आदि ऋषियों की मूर्ति भी नहीं मिलती। इसमें पक्षपात की कोई बात ही नहीं है ।

(ग) हिन्दू लोग तो हूण, मुगल, अंग्रेज आदि सभी को विदेशी मानते हैं, ये तो दलित लेखक ही हैं जो हिन्दुओं के पूर्वजों (आर्यों) को विदेशी कहने वाले अंग्रेजों का धन्यवाद करते हैं । अंग्रेज विदेशी थे, इसमें दलित लेखक को शक क्यों होता है? ऐसा तो अंग्रेज इतिहासकारों ने भी नहीं कहा कि वे भारतीय हैं । आर्यों को विदेशी और अंग्रेजों को भारतीय मानने वालों का कौन सा नजरिया है ?

(घ) मंगल पाण्डेय, रानी लक्ष्मीबाई आदि की प्रसिद्धि का कारण उनका ब्राह्मण होना नहीं (जैसा घृणावश लेखक मानता है), अपितु उनका रणकौशल था । उनकी वीरता का वर्णन अंग्रेजों (शत्रुओं) ने किया है । मातादीन और झलकारी बाई जैसे सभी बलिदानी आदरणीय हैं । इनके अधिक वर्णन न होने में जातिवादी कारण नहीं है । यूं तो विक्रमी संवत् चलाने वाले जन-जन के लोकप्रिय सम्राट् विक्रमादित्य को भी इतिहास में अभी तक स्थान नहीं मिल पाया है । उन्हें काल्पनिक बताया जाता है ।

(ङ) सुभाषचन्द्र बोस व भगतसिंह का जन्म प्रसिद्ध परिवारों में हुआ था,और बाद में उनके विषय में लिखने वाले उनके परिवारों में भी थे, पर उधमसिंह अनाथाश्रम में पला था व उसके विषय में लिखने वाला कोई परिजन नहीं था । व्यक्तिगत व संस्थागत प्रयासों से ही कुछ बलिदानियों पर लिखा गया है, गाँधीवादी सरकार क्रांतिकारियों के प्रति उदासीन रही है, जिसके अंतर्गत नेता जी सुभाष को 'भारत रत्न' का सम्मान १९९२ में दिया गया, जबकि नेहरू जी की तीसरी पीढ़ी (राजीव गाँधी-१९९१ ई०) भी 'भारतरत्न' बन चुकी थी । वीर सावरकर को तो अब तक

बदनाम किया जा रहा है। उनके प्रेरक व सहयोगी श्याम जी कृष्ण वर्मा के नाम को भी भारत की जनता नहीं जानती। श्याम जी के प्रेरक रहे ऋषि दयानन्द को भी वह सम्मान नहीं मिल पाया है, जिसके वे अधिकारी थे। अमर शहीद उधमसिंह का सच्चा इतिहास आने में समय लगा है, पर राजनैतिक लाभ पाकर इटावा (उ० प्र०) में बने कॉलेज से महान बलिदानी चन्द्रशेखर आजाद का नाम हटाकर डॉ० अम्बेडकर रखने वाली आदरणीया मुख्यमन्त्री ने कौन सी उदारता का परिचय दिया? क्या इसी तरह सामाजिक समरसता स्थापित होगी ?

कर्नल टॉड के अनुसार मेवाड़ के गुहिलोत राजवंश के संस्थापक गुहिल के पिता शिलादित्य हूणों के साथ लड़ाई में मारे गए, तो छोटे बालक गुहिल का पालन-पोषण भील बालकों के साथ पहाड़ों की गुहाओं में हुआ था। भीलों के सहयोग से ही ५६६ ई० में गुहिल ईडर का शासक बना। बाद में महाराणा प्रताप का बचपन भी भीलों के बीच बीता था। भील सरदार पूंजा के नेतृत्व में हजारों भील महाराणा प्रताप के संघर्ष काल में सहयोगी रहे। राणा राजसिंह को भी भीलों ने पूरा सहयोग दिया था। महाराणा प्रताप ने तो भील सरदार पूंजा को भी राणा पूंजा कहा था। उनके त्याग व बलिदान के कारण मेवाड़ के **'राज चिह्न'** में इसीलिए एक ओर राजपूत तथा दूसरी ओर भील सैनिक के चित्र अंकित हैं।

वीर माता पन्ना धाय ने अपने बेटे चन्दन का बलिदान देकर उदयसिंह को बचाया था। माँ पन्ना के महान् त्याग का वर्णन राजस्थान के इतिहास व काव्यों में मिलता है। भारत का बच्चा- बच्चा उससे परिचित है। बिरसा मुण्डा (बिहार), तांतिया भील (मध्यप्रदेश), तीरथ सिंह खासी (उत्तर पूर्वांचल), शंभुदान कचारी (नागा), लक्ष्मण नायक (उड़ीसा), राघो जी (महाराष्ट्र) जैसे बहुत से बलिदानी वीर अंग्रेजों के साथ संघर्ष करते हुए शहीद हो गये। उन सबका पूरा इतिहास अभी भी सामने नहीं आया है। शिकागो (अमरीका) सम्मेलन (११ सितम्बर १८९३ ई०) के भाषण ने स्वामी विवेकानन्द को विश्व-प्रसिद्ध कर दिया, जबकि उसी सम्मेलन में वीरचन्द राघव जी गाँधी (जैन) को उनके भाषण के कारण रजत पदक का सम्मान मिला था। उनसे प्रभावित होकर बहुत लोगों ने मांसाहार त्याग दिया था। भारत में १८९६-९७ में अकाल पीड़ितों के लिए वीरचन्द ने चालीस हजार रु० व गेंहू से भरकर एक जहाज भेजा था। पर उस महान् व्यक्ति का नाम दबा दिया गया।

फिर उसके ४० वर्ष बाद (१९९३ ई०) वहीं आर्यसमाज के विद्वान् पं० अयोध्या प्रसाद बी०ए० के भाषण की चर्चा कोई कैसे करता। जिनके भाषण पर मुग्ध होकर अमेरिका वालों ने स्वयं उनका वीजा बढ़वाया व एक वर्ष तक वे अमेरिका में वैदिक धर्म का प्रचार कर ईसाइयों को हिन्दू बनाते रहे। पर भारत के लोग ऐसे धर्मवीर का नाम भी नहीं जानते। क्योंकि स्वतन्त्र भारत की धर्मविरोधी सरकार ने राजनैतिक षड्यन्त्र रचकर ऐसे महापुरुषों को इतिहास से गायब कर दिया। अत: हमें मत, मजहब व जाति से ऊपर उठकर उन उपेक्षित बलिदानियों को उचित सम्मान दिलाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, ताकि वर्तमान व भावी पीढ़ी उनसे राष्ट्रहित में त्याग करने की प्रेरणा ले सके। मंगल पाण्डेय व झाँसी की रानी के प्रति घृणा व्यक्त करने से मातादीन महान नहीं हो जाएगा। रानी के बेटे पर भी तो किसी ने नहीं लिखा।

(..... क्रमश:)

॥ ओ३म् ॥

मनुष्य को अपने सभी शुभ व अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है

—मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून (मो० : 09412985121)

हमारा मनुष्य जन्म हमें क्यों मिला है? इसका उत्तर है कि हमने पूर्वजन्म में जो कर्म किये थे, उन कर्मों में जिन कर्मों का भोग हम मृत्यु के आ जाने के कारण नहीं कर सके थे, उन कर्मों का फल भोगने के लिये हमारा यह जन्म, जिसे पूर्वजन्म का पुनर्जन्म भी कहते हैं, होता है। यह सिद्धान्त तर्क, युक्ति एवं शास्त्रों के प्रमाणों से सत्य सिद्ध होता है। योगदर्शन में ऋषि पतंजलि जी ने कहा है कि हमारे प्रारब्ध के कर्मों के अनुसार ही हमारे इस जन्म के जाति, आयु और भोग निर्धारित होते हैं। जाति का अर्थ मनुष्य, पशु, पक्षी व नाना प्रकार के कीट व पतंग आदि जातियों से है। मनुष्य जाति पूरी की पूरी एक ही जाति है। इस मनुष्य जाति में स्त्री व पुरुष नाम के दो प्राणी होते हैं। दोनों की ही जाति मनुष्य होती है तथा लिंग भेद से एक स्त्री व दूसरा पुरुष कहलाता है। समाज में जो जन्मना जातियाँ प्रचलित हैं, वह मध्यकाल में मनुष्यों द्वारा अज्ञानता से प्रचलित हुई जातियाँ हैं। ईश्वर प्रदत्त ज्ञान वेद के अनुसार मनुष्य अपने अपने गुण, कर्म व स्वभाव के भेद से चार वर्ण वाले होते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र।

ब्राह्मण व क्षत्रिय आदि जातियाँ नहीं हैं अपितु यह वर्ण हैं जिसका निर्धारण आदि व वैदिक युग में गुण, कर्म व स्वभाव से हुआ करता था। यह वर्ण गुरुकुल के आचार्य राज्य-व्यवस्था से निर्धारित किया करते थे। सभी वर्णों के कर्म भी अलग अलग होते हैं। इनको सभी लोगों द्वारा किया जाता था। आजकल सभी मनुष्य अपनी स्कूली शिक्षा प्राप्त कर कोई भी कर्म करने व न करने में स्वतंत्र हैं। अतः आजकल वर्ण व्यवस्था समाप्त प्रायः हो चुकी है। जातियाँ तो पृथक-पृथक होती हैं, मनुष्य जाति अपने आप में एक ही जाति है क्योंकि इसमें सभी मनुष्यों की उत्पत्ति का तरीका तथा उनकी आकृतियां व कर्मों में समानता पायी जाती है। अतः मनुष्यों में जो जन्मना जातियां प्रचलित हैं वह वेद व शास्त्रों की भावना व उपदेशों के विरुद्ध व अप्रासंगिक हैं। आजकल समाज में अन्तर्जातीय विवाह हो रहे हैं। इससे भी जाति का निरर्थक होना विदित होता है। मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव, अनेक प्रकार की सुन्दर व असुन्दर आकृतियाँ, स्वास्थ्य व बल आदि का ही महत्व होता है। अतः मनुष्य को वेदों की शिक्षाओं को जानना व पालन करना चाहिये। इसी से मनुष्य समाज उन्नत होता है तथा इसी से सुख व शान्ति का विस्तार होता है। ऐसा ही सृष्टि के आदि काल से महाभारत युद्ध के समय तक देश में होता रहा है। रामायण एवं महाभारत नाम के इतिहास ग्रन्थों में अनेक मनुष्यों व सामाजिक पुरुषों का वर्णन आता है परन्तु कहीं किसी के साथ कोई जाति सूचक शब्द प्रयुक्त नहीं होता। हम सब उन्हीं के वंशज और वह सब हमारे

पूर्वज थे। जब पूर्वजों के नाम बिना जाति नाम वाले होते थे तो हमें भी अपने नाम के साथ किसी भी प्रकार का उपनाम जाति के नाम पर प्रयोग नहीं करना चाहिये। हमें सार्थक नाम रखने चाहियें और जीवन में ज्ञान, कर्म, बल व स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रकृष्ट मनुष्य बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

योगदर्शन ने पूर्वजन्म में किये कर्मों पर आधारित प्रारब्ध के आधार पर हमें इस जन्म में जाति मिलने की जो बात कही है, वह मनुष्य, पशु आदि व इतर प्राणियों के भेद से कही गई है। हमारी इस जन्म में आयु का आधार मुख्यतः हमारा प्रारब्ध ही होता है। हमें अपने मनुष्य जन्म में कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसका भी हमारी आयु पर प्रभाव पड़ता है। श्रेष्ठ व उत्तम कर्मों से आयु को स्थिर व बढ़ाया जा सकता है और निन्दित व अशुभ कर्मों से आयु कम भी होती है। ऐसा नहीं है कि हम कुछ भी कैसा भी करें, कुछ भी अच्छा व बुरा खायें, रहन सहन में भी स्वेच्छाचारिता करें, तो इसका प्रभाव हमारी आयु पर नहीं होगा। हमारे सभी कर्मों का किसी न किसी रूप में हमारी आयु पर प्रभाव पड़ता है। अतः हमारा कर्तव्य होता है कि हम प्रारब्ध के आधार पर परमात्मा से मिली आयु को इस जन्म में अपने सद्कर्मों से स्थिरता प्रदान करें, उसका रक्षण करें व उसकी संवृद्धि करें। हमारा आयु का मुख्य कारण हमारे पूर्वजन्म के कर्म अर्थात् प्रारब्ध ही हुआ करता है जिसके आधार पर परमात्मा हमारी आयु का निर्धारण करते हैं। हमारे जन्म का तीसरा आधार हमारे पूर्वजन्म के कर्म व प्रारब्ध के आधार पर भोगों का प्राप्त होना होता है। भोग हमें प्राप्त होने वाले सुख व दुःख को कहा जाता है। हमें जो सुख व दुःख प्राप्त होते हैं वह प्रायः हमारे प्रारब्ध के कर्मों के आधार पर होते हैं। इसके साथ हमें अपने इस जन्म के क्रियमाण कर्मों का सुख व दुःख भी मिला करता है। सुख दुःख के अन्य कारण आधि-दैविक, आधिभौतिक तथा अध्यात्मिक भी होते हैं। हमारा यह लिखने का आशय यही है कि हमारे जीवन में कर्म का महत्व है और इसी आधार पर हमें जन्म मिलने सहित सुख व दुःखों की प्राप्ति होती है। अतः हमें कर्म विज्ञान को जानने का प्रयत्न करना चाहिये जिसके लिये हमें वेद, उपनिषद, दर्शन, प्रक्षेप रहित विशुद्ध मनुस्मृति तथा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों का अध्ययन व स्वाध्याय करना चाहिये। ऐसा करके हम अपने जीवन में दुःखों को कम तथा सुखों को बढ़ा सकते हैं।

हमारे जीवन में वेदादि शास्त्रों तथा उनकी सत्यमान्यताओं का मुख्य स्थान होता है। शास्त्रीय वचन है 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं'। इसका अर्थ है कि मनुष्य को अपने किए शुभ व अशुभ कर्मों के फल अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। शुभ कर्मों का फल सुख तथा अशुभ कर्मों का फल दुःख होता है। अतः मनुष्य को शुभ व अशुभ कर्मों का भेद ज्ञात होना चाहिये। शुभ कर्मों में ईश्वरोपासना, अग्निहोत्र देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, सद्व्यवहार, सदाचारण, परोपकार व सुपात्रों को दान आदि का देना आदि कर्म आते हैं। इनके विपरीत जो कर्म होते हैं वह अशुभ व पाप कर्म कहलाते हैं। उनका परिणाम दुःख होता है। शुभ कर्मों को न करने से भी दुःख मिलता है। हम मनुष्य जीवन में इस पृथिवी, जगत व अन्यान्य प्राणियों से अनेक लाभ प्राप्त करते हैं। हमारा भी कर्तव्य होता है कि हम भी उन सबके प्रति कृतज्ञता का भाव रखते हुए उन सबको कुछ न कुछ देने का प्रयत्न करें। ऐसा करने से ही हम अन्यों के उपकारों व ऋणों से मुक्त होते हैं। जो व्यक्ति दूसरों

का जितना उपकार करता है उसको ईश्वर की व्यवस्था से उतना ही अधिक सुख प्राप्त होता है। अतः हमें ज्ञान प्राप्ति सहित ईश्वर के उपकारों को जानकर भी उसके प्रति कृतज्ञ होकर उसकी उपासना व भक्ति करनी चाहिये। इन कार्यों सहित हमें देश व समाज हित एवं सभी मनुष्यों व प्राणियों के हित व सुख की कामना भी करनी चाहिये। ऐसा करके ही हम स्वयं सुखी होकर उन्नति को प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा जीवन ही वस्तुतः प्रशंसनीय जीवन होता है।

कर्म का फल सभी को भोगना पड़ता है। इसके क्षमा होने का विधान सत्शास्त्रों में नहीं है। राम, कृष्ण व दयानन्द जैसे महापुरुष व महात्मा भी अपने पूर्वजन्मों के कर्मों के फल भोगने से बचे नहीं थे। रामचन्द्र जी के जीवन में आता है कि जब सीता माता का रावण ने हरण कर लिया तो वह इससे अत्यन्त व्यथित हुए। इस अवस्था में वह लक्ष्मण जी को एक स्थान पर कहते हैं कि मैंने पूर्वजन्म में अवश्य ही कुछ अशुभ कर्म किये थे जिसके कारण मुझे पिता से वनवास मिला और यहाँ भी मेरी पत्नी का अपहरण हो गया। इस घटना को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। इससे अनुमान होता है कि कर्म की गति को समझना कठिन है। बहुत से महापुरुष यह भी कहते हैं कि जीवन में यदि कभी छोटा या बड़ा दुःख आये जिसका प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कारण समझ में न आये तो यह समझ लेना चाहिये कि यह किसी पूर्वजन्म के कर्मों का या किन्हीं विस्मृत कर्मों का फल हो सकता है जो परमात्मा की व्यवस्था से हमें मिल रहा है। योगेश्वर श्री कृष्ण तथा ऋषि दयानन्द के संघर्षपूर्ण जीवन को देखकर भी लगता है कि इनका जीवन भी अत्यन्त संघर्षों व दुःखों की छाया से युक्त था। इसके लिए इनका पूर्वजन्म व उसमें किये कर्मों को ही स्वीकार करना होगा।

हमने आर्यसमाज में अनेक विद्वानों से एक ऐतिहासिक घटना को सुना है। इसमें वह बताते हैं कि एक बार एक प्रसिद्ध नामी डाकू अपने साथियों के साथ एक धनवान व्यक्ति के घर पर डाका डालने गया। उस धनवान का घर एक मन्दिर के साथ बना हुआ था। सभी डाकू मन्दिर में पहुँच गये। सबके पास हथियार थे। रात्रि का समय था। उस समय मन्दिर में कथा चल रही थी। विद्वान उपदेशक कर्म-फल सिद्धान्त को समझाते हुए शास्त्रीय प्रमाण देकर बता रहे थे कि मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर में किये हुए अपने शुभ व अशुभ कर्मों के फल अवश्यमेव भोगने पड़ते हैं। बिना भोगे कर्म छूटता नहीं है। इस उपदेश को जब प्रमुख डाकू ने सुना तो वह अपने गुप्त स्थान से कथा में आकर बैठ गया। उस डाकू को स्थानीय लोग पहचानते थे अतः सभी लोग एक-एक करते भाग खड़े हुए। कुछ ही देर में ऐसा समय आया कि वक्ता व डाकू के अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं था। डाकू ने वक्ता को कहा कि यदि कोई मनुष्य हजार अच्छे काम करे और कुछ थोड़े से बुरे काम करे तो क्या फिर भी उसे उन बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ेगा? **वक्ता ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया कि मनुष्य को अपने प्रत्येक शुभ कर्म का फल सुख के रूप में तथा प्रत्येक अशुभ व पाप कर्म का फल दुःख के रूप में अलग-अलग भोगना पड़ता है। बिना भोगे कोई कर्म छूटता वा क्षय को प्राप्त नहीं होता। इससे उस डाकू का हृदय परिवर्तन हो गया। उसने चोरी व डाका डालना छोड़ दिया और धर्म की दीक्षा लेकर धर्म कार्य करने लगा।** अध्ययन करते हुए पाठकों को ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। डाकू रत्नाकर को पाप पुण्य का रहस्य विदित होने पर वह ऋषि बाल्मीकि बन

(शेष पृष्ठ 20 पर)

धर्म और अधर्म

व्याख्याता—शास्त्रार्थ महारथी पं० रामचन्द्र जी देहलवी

धर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपात-रहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिए यही एक मानने योग्य है, उसको धर्म कहते हैं ।

आइये, हम धर्म और अधर्म के स्वरूप पर विचार करें और सदैव धर्माचरण करने का निश्चय करें ।

श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज ने धर्म का लक्षण करते हुए सबसे पूर्व ईश्वर की आज्ञा का यथावत पालन करना आवश्यक समझा, जिससे ईश्वर का मानना स्वत: सिद्ध है । उस ईश्वर को न मानने वाला इस लक्षण के अनुकूल धर्मात्मा नहीं समझा ज सकता ।

बहुधा ऐसे मनुष्य दुनिया में मिलेंगे, जिनका ईश्वर में विश्वास नहीं, परन्तु वे भी सृष्टि नियमों को मानते हैं और उन पर चलते हैं । ऐसे पुरुष पूर्ण धर्मात्मा नहीं कहे जा सकते चूंकि उन्होंने नियामक के आवश्यक अंग को नहीं माना जिसके बिना किसी भी नियम का निर्माण होना असम्भव है ।

अनुमान-प्रमाण विशेषकर मनुष्य के लिए ही है, जो कारण से कार्य और कार्य से कारण का अनुमान करके अपने कार्यों की सिद्धि करता है। प्रत्येक समय यह आवश्यक नहीं कि कार्य और कारण दोनों की प्रतीति एक ही साथ हो । यदि दुनिया में कहीं ऐसा नियम होता कि दोनों एक ही साथ होते तो अनुमान प्रमाण की आवश्यकता ही न होती ।

जैसे बादलों को देखकर होने वाली वर्षा का और हुई वर्षा को देखकर उसके कारण रूप बादलों का अनुमान होता है, इसी प्रकार दु:ख को देखकर पाप-कर्मों का, और पापकर्मों को देखकर दु:खों का अनुमान होता है । यदि कोई दु:खों को देखकर पाप-कर्मों का अनुमान करे या सन्तान को देखकर मात-पिता का, तो उसको पूर्ण ज्ञानी नहीं कह सकते । इसी प्रकार यदि कोई सृष्टि नियमों को देखकर और स्वीकार करके भी उनके नियामक को स्वीकार न करे, तो वह भी पूर्ण ज्ञानी न समझा जाएगा । और जो पूर्ण ज्ञानी ही नहीं, वह पूर्ण धर्मात्मा ही कैसे हो सकता है? चूंकि धर्मात्मा के लिए ज्ञानपूर्वक कर्मों की ही तो प्रधानता है ।

यदि कोई यह शंका करे कि ईश्वर ने कानून तो बना दिया, पर वह अब कुछ नहीं करता और न आगे करने की आवश्यकता है । प्रत्येक कार्य उस ही नियम के अनुसार होता चला आ रहा है।

और

आगे भी होता रहेगा, तो क्या हानि? इसका उत्तर यह है कि कानून स्वयं कुछ नहीं कर सकता जब तक कि चेतनकर्ता उसको अमल में न लाते, जैसे कि ताजीरात हिन्द किसी अपराधी का कुछ नहीं कर सकती, जब तक कि पुलिस उसको पकड़ कर जज के सामने पेश न करे और जज उसको अपराध के अनुसार दण्ड न दे दे । इसी प्रकार परमात्मा का कानून भी ईश्वर के स्वयं अमल में लाए बिना कुछ नहीं कर सकता ।

जो ईश्वर को कानून का बनाने वाला तो मानता है लेकिन चलाने वाला नहीं मानते, उनको

यह विचारना चाहिए कि जिस बुद्धि ने कानून का निर्माण किया है, वह ही बुद्धि उसको चला सकती है । प्रकृति जड़ होने से स्वयं न कोई कानून (नियम) बना सकती है और न किसी के बनाये नियम पर स्वयं स्वतन्त्रता से चल सकती है । जीवात्मा भी अल्पज्ञ होने से बिना ईश्वर से शरीर तथा ज्ञान प्राप्त किए न कोई नियम बना सकता है, न चल तथा चला सकता है । जीवात्मा इस प्राकर की ईश्वरीय सहायता प्राप्त करके भी, जो नियम बनाता या चलाता है, उसको भी वह अन्य पुरुषों की सहायता से ही कार्यरूप में परिणत करता है । कई स्थानों पर स्वयं अल्पज्ञ और अल्पशक्ति होने के कारण, अपनी इच्छा के विरुद्ध फल की प्राप्ति और असफलता का पात्र बनता है । जैसे आपने देखा होगा कि कभी-कभी बिना किसी इच्छा के स्वयं ठोकर लग जाती है तथा भोजन करते समय दांतों के तले जीभ कटकर कष्ट देती है । जिससे कि यह सिद्ध है कि कभी-कभी जीवात्मा अपने शरीर पर भी पूर्ण अधिकार नहीं रख पाता । पर परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होने के कारण इकला ही सब नियमों को बनाता और स्वयं उन्हें चलाता है, यह हममें और परमात्मा में भेद है ।

अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर की आज्ञा कौन सी मानी जाये ? मुसलमान भाई कहते हैं कि कुरान ईश्वर का हुक्म है । ईसाई भाई बाईबिल को खुदा की पुस्तक बतलाते हैं, इस ही तरह अन्य मजलहब भी । परन्तु इन सबको पुस्तकों में परस्पर भेद और विरोध होन के कारण सबको ईश्वर की आज्ञा नहीं कहा जा सकता ।

ईश्वर आज्ञा वह ही हो सकती है जो ईश्वर की भांति सार्वभौम हो, एकदेशी न हो । अर्थात् सब मनुष्यों के लिए हितकर हो, किसी विशेष देश या जाति का पक्षपात न हो तथा उसके दया, न्यायादि गुणों के विरुद्ध न हो, अर्थात् वेदानुकूल हो ।

● **पक्षपात रहित न्याय**—यह बहुत कम देखा जाता है कि मनुष्य न्याय करे और वह पक्षपात रहित हो । मनुष्य अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान होने के कारण कई दोषों से युक्त होता है। धन का लालच, रिश्तेदारी, मित्रता, दूसरे का भय और मोह आदि उसको पूर्ण न्याय नहीं करने देते । ईश्वर इन त्रुटियों से रहित होने के कारण पक्षपात रहित न्याय करता है । अत: जो पुरुष ईश्वरीय गुणों के अनुकूल अपने गुण बनाकर संसार में कार्य करता और अपने जीवन को व्यतीत करता है वह एक समय पूर्वोक्त सम्पूर्ण दोषों से युक्त होकर पक्ष-पापरहित न्याय करने लग जाता है । पक्षपाती पुरुष अपना दायरा अत्यन्त संकुचित रखता है । यह केवल अपने में या जिसके साथ वह पक्षपात करता है, उस ही तक सीमित रहता है । परन्तु पक्षपात रहित कर्म करने वाला यजुर्वेद के-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥

(यजु० ४० मन्त्र ९)

अनुसार अपने को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में समझता है । एक देशी जीवात्मा के लिए यह असम्भव है कि वह ईश्वर की तरह सब वस्तुओं में व्याप्त हो जाए । उसके लिए एक यह ही प्रकार वह अपने को "सर्वप्रिय" "सर्वहितकारी" बना सके, यह भी इसकी सर्वव्यापकता है ।

● **सर्वहित**—जिस न्याय में किसी का अहित न हो, वह पक्षपात रहित न्याय है । इसका दूसरा नाम सर्वहित है । ईश्वर इतना गम्भीर है कि दिन-रात सबका न्याय करता हुआ भी प्रत्येक जीव के हित को लक्ष्य से रख एक जीव के बुरे कर्मों को दूसरे पर प्रकट नहीं करता, चूंकि वह

जानता है कि बुराई के छुड़ाने में ऐसी बात साधक नहीं होती, अपितु बाधक होती है। जो जीव धर्म का आचरण करना चाहे, उसको "सर्वहितकारी" अवश्य होना चाहिए। प्राय: देखा जाता है कि मनुष्य एक दूसरे की निन्दा करने के लिए घर-घर मारे-मारे फिरते हैं और उनको तब तक चैन नहीं पड़ता, जब तक दस-बीस स्थानों पर किसी की निन्दा न कर आवे। परन्तु वे यह नहीं विचारते कि ऐसा करने से किसी का भी कोई हित नहीं होता, बल्कि अपनी ही आदत खराब होती है, और परस्पर रागद्वेष की वृद्धि होकर वैमनस्य बढ़ता है।

स्वार्थी पुरुष भी पूर्ण न्याय या सर्वहित नहीं कर सकता। वह अन्यों के लाभ की अपेक्षा स्वार्थ को अधिक मूल्यवान् समझता है और दूसरे के बड़े-बड़े लाभ को अपने तुच्छ से तुच्छ लाभ पर कुर्बान कर देता है। बहुत से मतों के प्रवर्तकों ने अपने मान और प्रतिष्ठा के लिए अपनी न्यूनताओं (कमजोरियों) को भी अपने अनुयायियों का एक धार्मिक नियम बना दिया और कोम की आगे होने वाली उन्नति में एक जबर्दस्त रोड़ा अटकाया जिसके फलस्वरूप आज कुछ लोग **"शारदा एक्ट"** जैसे आवश्यक और अत्युपयोगी कानून को भी अपने मजहब के विरुद्ध मानकर उसका विरोध करते और कहते हैं कि हमारे पूर्वज इस प्रकार की कम उम्र वाली कन्याओं से शादी कर गये हैं, अत: यह कानून उनके विरुद्ध होगा, इसलिए हम नहीं मान सकते। इसके विरुद्ध ऋषि लोग ईश्वरभाव से प्रेरित हो तथा सर्वहित को लक्ष्य में रखकर जो कुछ कार्य कर गये, वह उन सम्पूर्ण दोषों से रहित था, जिनसे सामान्य पुरुष प्राय: शीघ्र मुक्त नहीं हो पाते।

● **प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित–** प्रत्यक्षादि प्रमाण जो आगे आयेंगे, उनकी व्याख्या वहाँ की जावेगी। यहाँ केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी चीज के लिए परीक्षा द्वार बन्द नहीं। किसी भी काम को खूब सोच समझ और परीक्षा करके करना चाहिए। यदि हम उन परीक्षाओं में ठीक और यथार्थ उतरे तो धर्म और यदि न उतरे तो उसे अधर्म (अकर्तव्य) समझना चाहिए। इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का स्वयं उत्तरदाता हो, स्वयं परीक्षा करके ही प्रत्येक कार्य को करने की आज्ञा दी गई है। चाहे रेलवे का प्रबन्ध इञ्जीनियरिंग के अधीन रखा गया है और अदमी दिन रात लाइन और पुलों की देखभाल करते रहते हैं, पर फिर भी ड्राइवर को सर्च लाइट और अपनी आँखों से देखकर चलाने की आज्ञा दी जाती है ताकि उसका वैयक्तिक उत्तरदायित्व उसके कार्य के साथ रहे।

● **वेदोक्त–**वेद जो कि **"विद्सत्तायाम, विद ज्ञाने, विद विचारणे"** तथा **"विदलाभे"** इन धातुओं से सिद्ध होता है जिनका अर्थ हुआ कि जो सत्ता ज्ञान विचार और लाभ के सहित हो अर्थात् सर्वप्रथम वेद द्वारा हमें प्रत्येक वस्तु की सत्ता का उपदेश होता है, तत्पश्चात् उन वस्तुओं तथा उनके गुण और व्यवहारादि का ज्ञान होता है। ज्ञान होने के अनन्तर ही हम उसके सूक्ष्म विषयों पर विचार करने में समर्थ हो पाते हैं, अन्त में इसी क्रम से हमें उस ज्ञान और विचार के अनुरूप लाभ की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उस वेद से उपदिष्ट कर्मों को जो कि मोटे शब्दों में ज्ञानानुकूल और विचार पूर्वक हो उन्हें धर्म कहा जाता है। इस ही लिए महात्मा मनु ने अपनी स्मृति में–**"वेदोऽखिलो धर्म मूलम्"** तथा **"धर्म जिज्ञासा-समानानां प्रमाणं परमं श्रुति:"** कहा अतएव प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार के वेदोक्त

कर्मों को करना ही अपना धर्म समझना और उसका अनुष्ठान करना चाहिए ।

● **अधर्म**–जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपात सहित अन्यायी होकर बिना परीक्षा करके अपना हित करना है जो अविद्या, हठ, अभिमान, क्रूरतादि दोषों से युक्त होने के कारण वेद विद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, वह अधर्म कहाता है ।

यद्यपि किसी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं चूंकि धर्म समझ लेने के बाद सिर्फ इतना विशेष याद रखना चाहिए कि जो धर्म से विपरीत अर्थात् उल्टा हो उसे अधर्म कहते हैं । ऋषि दयानन्द ने मत-मतान्तरों को इसी कसौटी पर कस उन्हें मत-मतान्तरों के नाम से निर्देश किया या मजहब बतलाया । चूंकि उन सम्पूर्ण मजहबों में जो कि अपने को धर्म के नाम से पुकारते थे, उपर्युक्त दोष थे, जैसे कोई ईश्वर की सत्ता को ही न मानते थे, अर्थात् नास्तिक थे । जब वे ईश्वर ही को न मानते थे तो फिर ईश्वर की आज्ञा को ही कैसे मानते । लिहाजा ऋषि ने उन्हें भी कहा कि तुम्हारा मत धर्म नहीं कहा जा सकता कि वह धर्म के एक आवश्यक अंग से रहित है, अतः वह मजहब है । इस ही प्रकार जो लोग ईश्वर की सत्ता को मानते थे पर उसको आज्ञाओं में पक्षपात मानकर किसी एक देश या जाति के लोगों से पक्षपात या प्रेम और दूसरों से नफरत प्रकट करते थे, या ईश्वर के नाम पर यज्ञों में अथवा देवी-देवताओं के सामने पशु हत्या आदि करके अपनी क्रूरता और मूर्ति पूजा आदि करके जड़ में चेतना को मानकर अपनी अविद्याप्रियता का परिचय देते थे, उन्हें तथा जिनके ग्रन्थों में निरी असम्भव और विश्वास न करने लायक बातें भरी पाई, ऋषि ने कहा कि तुम्हारा मत भी सिर्फ मत यानी मजहब है । वह धर्म का स्थान नहीं ले सकता । इसीलिए वह सम्पूर्ण मनुष्य के लिए मान्य न होकर सिर्फ तुम लोगों ही की स्वार्थ पूर्ति के लिए हो सकता है । अतः प्रत्येक समझदार मनुष्य को इस प्रकार मजहबों या मत-मतान्तरों को दूर से ही प्रणाम करके छोड़ देना चाहिए जिससे कि उसका जीवन व्यर्थ बर्बाद न हो । ❑❑

मनुष्य को अपने सभी शुभ व अशुभ (पृष्ठ 16 का शेष)

गये थे। इस कथा को भी अधिकांश लोगों ने पढ़ा है। यह भी एक दृष्टान्त है जिससे हमें सद्कर्म करने की प्रेरणा मिलती है।

कर्मफल सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि हम जो भी शुभ व अशुभ कर्म करते हैं, इन्हें ही पुण्य व पाप कर्म भी कहा जाता है, इनका फल हमें जन्म-जन्मान्तर में अवश्य ही भोगना पड़ता है। असत्, पाप व अशुभ कर्मों का फल दुःख तथा सत्, पुण्य व शुभ कर्मों का फल सुख व आनन्द होता है। इस रहस्य को जानकर हमें सत्कर्मों का आचरण तथा असत् कर्मों का त्याग करना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने इसे ही आर्यसमाज का चतुर्थ नियम भी बनाया है। नियम है–'सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।' ऐसा करके हमारा जीवन सफलता को प्राप्त हो सकता है। हमें मनुष्य जीवन को सार्थक करने के लिए वेद, उपनिषद, दर्शन, प्रक्षेप रहित मनुस्मृति सहित अनिवार्य रूप से ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों का बार बार अध्ययन व मनन करना चाहिये। ऐसा करके ही हम अपने जीवन को सफल बना सकते हैं। ओ३म् शम्। ❑❑